

प्राचीन शिक्षा पद्धति एवं शिक्षा का आर्थिक महत्त्व

गीता देवी

डॉ. प्रदीप कुमार केशरवानी

शोधार्थी

एसोसिएट प्रोफेसर

इतिहास विभाग

इतिहास विभाग

कालिंगा विश्वविद्यालय, रायपुर

कालिंगा विश्वविद्यालय, रायपुर

सार

समाजकी व्यवस्था करने के पश्चात् भी प्रत्येक समाज में अन्य समस्याएं भी होती हैं। सबसे प्रथम समाज के योग्य नागरिक तैयार करने के लिए समाज में शिक्षा की व्यवस्था करनी होती है। समाज का जीवन चलाने के लिए सुव्यवस्थित आर्थिक रचना की भी आवश्यकता होती है। साथ-ही-साथ समाज के अन्दर नैतिकता की धारणा निर्माण करने की भी आवश्यकता होती है। इन सब विषयों का धर्मशास्त्रों ने समाज-व्यवस्था से पृथक् विचार नहीं किया है, अपितु समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए इन प्रश्नों का उसी के अन्तर्गत विचार हो गया है। ब्रह्मचर्याश्रम के वर्णन में मूल रीति से शिक्षापद्धति का विचार किया जाता है; नैतिक नियम पाप और पुण्य के नाम से समाज-व्यवस्था के अंतर्गत दिए गए हैं; आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में यद्यपि 'वार्ता' के नाम से विचार किया गया है परन्तु प्रमुख नियम

धर्मशास्त्रों में भी मिलते हैं। इस कारण इन सब विषयों का ज्ञान भी धर्मशास्त्राकं और अर्थशास्त्रों से ही उपलब्ध होता है।

मूलशब्द : प्राचीन शिक्षा पद्धति एवं शिक्षा, आर्थिक महत्त्व, मूल सिद्धांत, सांस्कृतिक सिद्धांत

सार

विद्या का भारतीय जीवन-दर्शन में बहुत महत्त्व है। अथर्ववेद में जो ब्रह्मचर्य सूक्त है, उसमें यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी का समाज-जीवन में कितना महत्त्व है। पिछले अध्याय में यह दिखाया ही गया है कि भारतीय विचारकों ने शिक्षा को समाज-रचना में इतना महत्त्व दिया कि व्यक्ति द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ उसके लिए मानो एक नया ही जन्म माना गया। यह भी पहले बताया जा चुका है कि जिनकी शिक्षा नहीं होती उन्हें सावित्री-पतित अथवा व्रात्य कहा गया है और उनसे सम्बन्ध रखा अच्छा नहीं माना गया। संस्कारों का महत्त्व दिखाते हुए भी बताया गया है कि जन्म से तो व्यक्ति शुद्र होता है परन्तु संस्कार से ही द्विज होता है और जिस संस्कार का मुख्य रीति से यहाँ सन्दर्भ है, वह उपनयन-संस्कार है। विद्या का इतना महत्त्व माना गया है कि विद्यादान सब दानों में श्रेष्ठ है। अग्निपुराण में विद्या का महत्त्व बताते हुए कहा है, “विद्या कामधेनु है (तत्समान सभी कुछ देने वाली) तथा यह उत्तम चक्षु है” (अर्थात् इससे सभी बातों को ठीक रीति से देखने की दृष्टि आ जाती है। उपनिषदों में भी विद्या का बहुत महत्त्व वर्णित है।¹ शिक्षा प्राप्त करने की अर्थात् अध्ययन प्रारम्भ करने की अवस्था निर्धारित कर दी गई है। यह अवस्था ब्राह्मणों के लिए आठ वर्ष, क्षत्रियों के लिए ग्यारह वर्ष और वैश्यों के लिए बारह वर्ष है। परन्तु इससे पूर्व भी शिक्षा प्रारम्भ की जा सकती है और वह अधिक गुणकारी मानी गई है। हो सकता है कि किसी विशेष कारण से अथवा

असावधानी से शिक्षा का प्रारम्भ देर से किया जाये। इसके लिए भी व्यवस्था है। परन्तु एक आयु निर्धारित कर दी गई है। जिसके पश्चात् शिक्षा देने का कोई विशेष लाभ नहीं माना गया है। मनुस्मृति में यह नियम इस प्रकार दिया हुआ है, “ब्राह्मण का उपनयन गर्भ से आठवें वर्ष में करें, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में। ब्रह्म में। ब्रह्मतेज की इच्छा करने वाले ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, बल के चाहने वाले क्षत्रिय का छठे वर्ष में और धन चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिए।

सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष तक वैश्य की सरस्वती का अतिक्रमण नहीं होता (अर्थात् इस अवस्था तक उनका उपनयन हो सकता है।)” उपनयन का अर्थात् विद्यारम्भ का यही नियम गृह्य सूत्रों ने तथा अन्य स्मृतियों और पुराणों ने दिया है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति ने यदि अवधिविशेष तक शिक्षा नहीं प्राप्त की तो ऐसा समझना चाहिए कि उसको शिक्षा प्राप्त कर उन्नत जीवन व्यतीत करने की इच्छा ही नहीं, वह हीन जीवन ही व्यतीत करना चाहता है और ऐसे असंस्कृत व्यक्ति के साथ संबंध रखना अन्य लोगों को भी पतित करेगा तथा ऐसे पतित व्यक्ति को समाज में उत्तरदायित्वपूर्ण अथवा प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पर बिल्कुल नहीं रखा जा सकता। ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि अर्थात् अध्ययन-काल पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। परन्तु साधारणतया 12 वर्ष का कम-से-कम अध्ययन-काल निर्धारित किया गया है। ऐसी आशा थी कि बारह वर्ष में एक वेद का अध्ययन हो जायेगा, इस कारण अध्ययन का साधारणतया वही काल रखा गया है। परन्तु यदि व्यक्ति को अधिक अध्ययन करने की इच्छा हो तो चारों वेदों के अध्ययन के लिए 46 वर्षतक का काल व्यतीत किया जा सकता है और यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति मेधावी होने के कारण अध्ययन शीघ्र ही समाप्त कर ले। गोपथ- ब्राह्मण में कहा है कि “(सभी) वेदों (के

अध्ययन) के लिए ब्रह्मचर्य का काल 46 वर्ष बताया गया है और वेदों को चार भागों में बाँट कर बारह वर्ष का ब्रह्मचर्य का काल है। यह बारह वर्ष का काल अल्पतम है और समावर्तन संस्कार के पूर्व यथाशक्ति(वेद का) अध्ययन कर लेना चाहिए।” छान्दोग्योपरिषद् में कथा है कि अरुण के पौत्र (उद्दालक के पुत्र) श्वेतकेतु को उसके पिता ने ब्रह्मचर्यवास के लिए भेजा। उसने बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराया और चौबीसवें वर्ष में (अर्थात् बारह वर्ष के पश्चात्) सभी वेदों का अध्ययन करके वह वापिस लौट आया। उपरोक्त उद्धरण में तथा कथा में अध्ययन का काल तो निर्दिष्ट है ही, साथ-ही-साथ यह भी इङ्गित किया गया है कि अधिक योग्य व्यक्ति बारह वर्ष में एक से अधिक वेद भी समाप्त कर सकता था। मनुस्मृति में तीन वेद के पठन का काल छत्तीस वर्ष बताया गया है, परन्तु उससे भी कम काल का विधान है। मनु और याज्ञवल्क्य का यह भी कहना है कि शिक्षाक्रम के बीच में व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए अर्थात् ब्रह्मचर्य अखण्डित रहना चाहिए।²

शिक्षा के पीछे यह दृष्टि थी कि व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर समाज-जीवन का भार वहन करने के लिए तैयार हो तथा शिक्षा के द्वारा व्यक्तियों को निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करने की, समाज-सेवा की और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर ब्रह्म-प्राप्ति की और अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त हो, अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करते हुए उसको ब्रह्मज्ञान की और अग्रसर होने योग्य और भौतिक दृष्टि से समाज-जीवन का उत्तरदायित्व निबाहने क योग्य व्यक्ति को तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य था। सम्पूर्ण शिक्षापद्धति का निर्माण इसी एक प्रमुख दृष्टिकोण से किया गया था। पाठ्यक्रम भी इसी दृष्टि से निर्धारित था। इसी कारण शिक्षा के पाठ्यक्रम में सबसे प्रमुख वेद हैं। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि वेदों के अध्ययन के अनुसार ही शिक्षा का काल निर्धारित किया गया है। वेद को

धर्म का मूल माना ही गया है (जैसा पहले अध्याय में बताया गया है) और इस कारण वेदाध्ययन के द्वारा ही धर्म का ज्ञान भी अच्छी प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। यदि व्यक्ति को धर्म का ज्ञान न होगा और तदनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा न होगी तो वह समाज-जीवन में सहायक तो हो ही नहीं सकता, प्रत्युत् बहुत अंशों में यही सम्भव है कि वह समाज-जीवन में बाधा और विशृङ्खलता उत्पन्न करेगा। विद्यार्थी-जीवन व्यक्ति के विकास की प्रारम्भिक अवस्था है और इस काल में ही व्यक्ति का निर्माण किया जा सकता है, परन्तु यदि इसी काल में किसी व्यक्ति के आगे के सम्पूर्ण जीवन की उचित नींव न पड़ी तो वह स्वयं तो गिरेगा ही, साथ-ही-साथ वह समाज-जीवन को भी नष्ट करेगा। यह धारणा भारतीय समाजशास्त्रियों की थी और इस कारण जीवन में अन्य संयमों की शिक्षा के साथ (जिनका आगे वर्णन किया गया है) धर्म की शिक्षा भी अनिवार्य बतायी गई थी। इसके अतिरिक्त वेद ब्रह्मज्ञान के भी प्रदर्शक माने गये थे। महाभारत में कहा है, “श्रद्धा और विश्वासपूर्वक निश्चात्मक बोध ही मोक्ष का स्वरूप है। यदि तुम एक अविनाशी (ब्रह्म) से सम्बन्धित तत्त्व को जानना चाहते हो तो कोरा तर्कवाद छोड़ कर श्रुतियों और स्मृतियों का आश्रय लो। उनमें आत्मा का बोध करानेवाली बहुत ही उत्तम युक्तियाँ उपलब्ध हैं। जो शुष्क तर्क का आश्रय लेता है उसे साधन की विपरीतता के कारण बुद्धि की सिद्धि नहीं होती। अतः आत्मा को वेदों के द्वारा ही जानना चाहिए, क्योंकि आत्मा वेदस्वरूप है, वेद ही उसका शरीर है। वेद से ही तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) का बोध होता है। आत्मा में ही वेदों का उपसंहार या लय होता है।” अथर्ववेद को तो ब्रह्मवेद बताया ही गया है। इन ग्रन्थों की उक्तियों के अतिरिक्त भी यदि हम देखते तो वेदों में विभिन्न देवताओं की उपासना है और सभी देवता भिन्न-भिन्न रूपों में ब्रह्म के ही प्रतीक हैं, अतः देवताओं की स्तुति ब्रह्मोपासना ही है। इस कारण वेदाध्ययन का

महत्त्व धर्मग्रन्थों में वर्णित है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्यधर्म के अन्तर्गत कहा गया, “इस क्रम—योग स संस्कार—प्राप्त आत्मा वाला द्विज गुरु के पास रहता हुआ धीरे—धीरे ब्रह्म के पास ले जानेवाले तप का संचय करे। विधिपूर्ण तपों और विविध व्रतों के माध्यम से द्विज को सरहस्य (उपनिषद्बुद्ध) वेद पढ़ना चाहिए। तप करता हुआ द्विज सदा वेद का ही अभ्यास करता रहे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप कहा गया है। जो ब्राह्मण नित्यप्रति शक्ति के अनुसार वेद पढ़ता है, वह चरणा से नखों तक (सर्वदेहव्यापी) बड़ा भारी तप करता है। जो ब्राह्मण वेद न पढ़ कर अन्यत्र श्रम करता है वह जीते जी कुटुम्ब—सहित शूद्र हो जाता है।” नारदपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण आदि सभी पुराणों में जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, वहीं पर प्रमुख रीति से वेदाध्ययन पर बल दिया गया है। केवल वेदाध्ययन का ही महत्त्व नहीं बताया है, वेदार्थ को हृदयङ्गम कर उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक है। दक्षस्मृति ने वेदाभ्यास पाँच प्रकार का बताया है— वेद का स्वीकार (स्मरण), विचार (अर्थ—विचार), अभ्यास, जप तथा शिष्यों को दान (पढ़ाना)। मनुस्मृति में पहिले वेद—शास्त्र के तत्त्व को जाननेवालों का महत्त्व बता कर फिर कहा है कि यज्ञ लोगों से ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थ को केवल पढ़ने वालों से उसे धारण करने वाले (स्मरण रखने वाले) श्रेष्ठ हैं, धारण करने वालों से ज्ञान (अर्थ जानने वाले) श्रेष्ठ हैं और ज्ञानियों से उनके अनुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं।³

पाठ्यक्रम में वेद तो थे ही इसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मग्रन्थ थे। सांसारिक दृष्टि से भी व्यक्ति को तैयार करना आवश्यक था जिससे वह अपना जीवन सुचारुरूप से चला सके। इसके लिए अन्य विषय भी थे। अतः धर्मशास्त्रों में अन्य भी विद्याओं का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के अंतर्गत चारों वेद, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि का पाठ बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में कहा है कि वेदों के साथ कला, रहस्य, ब्राह्मण,

उपनिषद्, इतिहास, उपाख्यान, पुराण, अनुशासन, वाकोवाक्य आदि का भी निर्माण हुआ है। चार वेद और वेदाङ्ग(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) आदि का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में हैं, जहाँ चारों वेदों के साथ उपनिषद् और इतिहास-पुराण का उल्लेख अपरा-विद्या के नाम से किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में बहुत बड़ी सूची है। नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि, “मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इतिहास-पुराण रूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्धकल्प), राशि (गणित), दैव (शकुन-विद्या), निधिशास्त्र, (अर्थशास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, पशुज्ञान शास्त्र-विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या, (नृत्य, संगीत आदि) सब कुछ जानता हूँ।” याज्ञवल्क्यस्मृति में, मत्स्य पुराण में तथा वायु पुराण में विद्या के चौदह स्थान गिनाये हैं – चार वेद, छः वेदाङ्ग, कम स्थान पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। वायुपुराण तथा गरुड़पुराण में चौदह विद्याओं के साथ चार और विद्याओं का भी उल्लेख है – आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र जो कि क्रमशः चारों वेदों के उपवेद हैं।⁴ शुक्रनीति में बत्तीस विद्याओं और चौसठ कलाओं का वर्णन है। बत्तीस विद्याओं के अन्तर्गत चार वेद, छः वेदाङ्ग, चार उपवेद, मीमांसा, न्यासय, सांख्य, वेदान्त, योग, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र (स्मृति), नास्तिकों का मत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, अलंकार, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनों का मत, देशादि के धर्म हैं तथा 64 कलाओं में गान्धर्ववेद की अर्थात् (संगीत तथा कामशास्त्र की सात कलाओं का), आयुर्वेद की (औषधियों और प्राकृतिक वस्तुओं सम्बन्धी) दस कलाओं का, धनुर्वेद की (युद्धशास्त्र की) पाँच कलाओं का, तथा इसमें अतिरिक्त संसार के और बहुत-से व्यवसायों सम्बन्धी बयालीस कलाओं का उल्लेख है।

व्यापार के विषय में भी विस्तार से नियम बताये गये हैं। मनु का कहना है कि “चोर, डाकू आदि तो गुप्त रूप से रहने वाले वंचक हैं परन्तु जो विभिन्न प्रकार के व्यापार से जीवित रहने वाले हैं वे प्रकट रीति से कार्य करने वाले वंचक हैं।” इसी बात को ध्यान से रख कर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि “व्यापारीगण मिल कर वस्तुओं का विक्रय रोक देते हैं। ऐसे व्यापारियों पर, उनके द्वारा वस्तु का विक्रय रोक देने के लिए तथा वस्तु का मूल्य घटाने बढ़ाने के लिए, दण्ड होना चाहिए।” इस कारण मनुस्मृति में राज्य द्वारा मूल्य के निर्धारण करने का नियम तो बताया गया है, इसके साथ-साथ यह भी है कि राज्य द्वारा माँप-तौल के साधनों की भी प्रत्येक छः मास में परीक्षा होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, क्योंकि व्यापार में यह भी सम्भव है कि वस्तुओं का मिश्रण हो सकता है अर्थात् अच्छी के रूप में बेची जा सकती है अथवा वस्तुओं के बेचने में भेदभाव किया जा सकता है, इसलिए उस पर भी नियन्त्रण की व्यवस्था है। व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिए एक नियम यह भी है कि व्यापार की वस्तु का विक्रय उत्पादन के स्थान पर न होना चाहिए अपितु बाजार में ही होना चाहिए जिससे मूल्यों की गड़बड़ी पकड़ी जा सके तथा वस्तुओं पर उचित शुल्क लिया जा सके। व्यापार तथा व्यापारियों की सम्पूर्ण जानकारी रखने के लिए कौटिल्य ने गुप्तचरों का प्रयोग भी बताया है और मनु ने भी इन्हें कण्टक कह कर इनके लिए गुप्तचरों की नियुक्ति का आग्रह किया है। शुक्र ने व्यापार के विषय में एक नियम यह बताया है कि हाथी आदि पशुओं, चाँदी, सोना, रत्न, मादक वस्तु, आदि का क्रय-विक्रय राज्य की आज्ञा के बिना नहीं हो सकता। उक्त बताये गये सब नियमों का अर्थ यह है कि भारतीय विचारों का इस बात पर प्रबल आग्रह था कि व्यापार समाज विरोधी ढंग से न हो। इस बात की चिन्ता राज्य को करनी चाहिए तथा इस दृष्टि से उसे पर्याप्त नियन्त्रण भी रखना चाहिए।⁵

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था वह व्यवस्था थी जिसे वर्तमान काल में कृषि कालीन व्यवस्था कहा जाता है। यहाँ कृषि तथा घरेलू उद्योगों को ही प्रमुख स्थान था और बड़े यन्त्रों का होना वर्जित था। यह कृषि कालीन व्यवस्था जान बूझ कर रखी गयी थी। बड़े यन्त्रों की कल्पना होने पर भी उनका प्रयोग उनकी हानि के कारण ही वर्जित था। अतः भारतीय विचार में वर्तमान कालीन पूँजीवादी व्यवस्था मान्य नहीं थी जिससे क्रमशः थोड़े-थोड़े हाथों में ही धन का संचय होता जाता है तथा उन थोड़े लोगों को अपने धर्म के कारण समाज पर स्वामित्व प्राप्त होता जाता है। परन्तु पूँजीवाद व्यवस्था के साथ-साथ वर्तमान कालीन समाजवादी व्यवस्था भी, जिसमें धन के उत्पादन और वितरण का अधिकार राज्य के पास रहता है, भारतीय विचारकों को मान्य नहीं था। राज्य-व्यवस्था के वर्णन में इसका विस्तार से वर्णन किया जायेगा। भारतीय विचार में समाज की व्यवस्था को ठीक से बनाये रखने का कार्य राज्य का था तथा राज्य के द्वारा समाज पर इतना नियन्त्रण आवश्यक था जिससे समाज जीवन में और समाज की सुस्थिति तथा सुव्यवस्था में कोई गड़बड़ न हो। परन्तु इसके पश्चात् भी राज्य को इतना अधिकार नहीं दिया गया था कि समाज के संचालन का कार्य उसके पास हो। इतना अधिकार राज्य को देना भारतीय विचारकों को मान्य नहीं था। इसलिए आर्थिक जीवन का संचालन भी व्यक्तिगत हाथों में दिया गया था तथा उसका नियमन समाज-व्यवस्था के नियमों के अनुसार था। राज्य का आर्थिक जीवन पर केवल इतना नियन्त्रण था और इतना नियन्त्रण आवश्यक माना गया था कि कोई गड़बड़ी न हो सके। फिर भी मूल्य निर्धारित करने के समाज महत्वपूर्ण कार्य तथा आयात-निर्यात को समाज के हित में नियन्त्रित करने का कार्य, उत्पादन में आवश्यक सहायता देने का कार्य तथा वितरण में कहीं गड़बड़ हो तो उसे ठीक करने का कार्य, राज्य को सौंपा

गया था क्योंकि वर्तमानकालीन समाजवाद भारतीय व्यवस्था में मान्य नहीं था। इस आधार पर वर्तमानकालीन आर्थिक नियोजन भी, जिसमें राज्य समाज के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर अपना अधिकार निर्माण कर उसकी व्यवस्था करता है,⁶ भारतीय विचारकों को मान्य नहीं था। सहायता देकर तथा गड़बड़ियाँ रोक कर समाज की आर्थिक प्रगति की योजना बनाना, इतना ही आर्थिक नियोजन भारतीय आर्थिक विचार के अन्दर मान्य था।

नैतिक नियम

धर्मशास्त्रों में नैतिक गुणों का पालन तो बताया ही गया है परन्तु कुछ नैतिक दोष भी वर्णित तथा वर्जित है। उन दोषों में प्रमुख काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर— षड्रिपु के नाम से विख्यात है। शान्तिपर्व में इनके विषय में विस्तार से कहा गया है “मनुष्य की हृदय—भूमि में मोहरूपी बीज से उत्पन्न हुआ एक अद्भूत वृक्ष है। उसका नाम है काम। क्रोध और अभिमान (मद) इसके स्कन्ध है, कर्म करने की इच्छा उसका थाला है, और अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद के जल से वह खींचा जाता है, असूया (मत्सर) उसके पत्ते हैं, और पूर्व जन्म के लिये पाप उसके सार—भाग है। शोक उसकी शाखा, मोह पर चिन्ता डालियाँ और भय उसका अंकर है। उसमें तृष्णा रूपी लताएँ लिपटी हुई हैं। लोभी मनुष्य लोहे की जंजीरों के समान वासना के बन्धनों में बँध कर उस वृक्ष की चारों ओर से घेर कर खड़े हैं और उस फल का आस्वादन करना चाहते हैं। जो वासना के बन्धन से मुक्त हो कर उस काम—वृक्ष को काट डालता है वही सांसारिक सुख—दुखों को त्याग कर उनके घेरे से बाहर हो जाता है। शान्ति पर्व में इन दोषों की उत्पत्ति का कारण तथा उनका निराकरण भी दिया हुआ है। इसी प्रकार

अन्य दोषों के सम्बन्ध में भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में उक्तियाँ तथा इन दोषों की हानि का उदाहरण बताने के लिए विविध कथाएँ हैं।

नैतिक गुणों और दोषों की विवेचना करने के पश्चात अन्य नैतिक नियमों का तथा नैतिकता की भारतीय कल्पना अर्थात् पाप और पुण्य का भी विचार करना आवश्यक है। जैसा कि बताया गया है, भारतीय नैतिकता की कल्पना में यह नैतिक गुण तो सम्मिलित हैं ही, भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्य नियमों का उल्लंघन भी पाप माना गया है। उदाहरण के लिए पाँच महापातकों में चोरी अथवा मदिरापान तो है ही ब्रह्महत्या अर्थात् ब्राह्मण की हत्या भी एक महापातक है और यह समाज-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर है। इसी प्रकार उपपातकों में धन ले कर पढ़ाना, अथवा केवल अपने लिए ही भोजना बनाना, अग्निहोत्र का त्याग से यज्ञ कराना आदि सम्मिलित हैं (देखिए, आगे उपपातकों की सूची)। पाप और पुण्य की कल्पना वेदों में ऋत से सम्बन्धित है। ऋतु का अर्थ है 'संसार अथवा जीवन की व्यवस्थित स्थिति'। इस व्यवस्थित स्थिति का उल्लंघन ही जीवन में गड़बड़ी अर्थात् अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला है, अतः वही पाप है। तदनुसार व्यवस्थित समाज में व्यवस्था उत्पन्न करना अथवा इसके नियमों का उल्लंघन करना भी पाप है। पाप दो प्रकार के हैं— एक वह जो मनुष्य के अत्यंत निम्नकोटि के कर्म है, जो व्यक्ति को अत्यधिक पतन की ओर ले जाने वाले है तथा दूसरे वे जो समाज-जीवन में बहुत विश्रृंखलता उत्पन्न करने वाले हैं। इनको महापातक कहा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ उपपातक गिनाये गये हैं। पापों का वर्णन अन्य रीति से है नरक में ले जाने वाले अथवा मनुष्य को अगले जन्मों में निम्न योनियों में ले जाने वाले कर्मों के रूप में भी किया गया है। इसी प्रकार नरक और स्वर्ग के वर्णन में तथा कर्मविपाक के वर्णन में गिनाये गये दुष्कर्म भी पाप हैं। समाज व्यवस्था का वर्णन करते समय

विशेष धर्म अथवा साधारण धर्म के यप में जो भी कर्म उल्लिखिते हैं, वे सभी पुण्य है अतः पुण्यकर्माँ को पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं।⁷

निष्कर्ष

महापातक पाँच माने गये हैं— ब्राह्मण का वध, गुरु स्त्री—गमन, चोरी, मदिरापान और इन चारों प्रकार के महापातकियों से संसर्ग। ऋग्वेद में कहा है, “विद्वानों ने सात मर्यादाएँ स्थापित की हैं, जो उनमें से एक हा भी उल्लंघन करता है वह पापी होता है।” निरुक्त (वेदों के टीका ग्रन्थ) में इन सातों मर्यादाओं जिनका उल्लंघन पाप पूर्ण कहा है, वे हैं— चोरी, गुरुतल्पगमन, ब्रह्महत्या, भूर्णहत्या, सुरापान, दुष्कर्म करने वाले की पुनः पुनः सेवा (अर्थात् इनसे संसर्ग) तथा पाप के विषय में असत्य कहना। छान्दोग्योपनिषद् में भी स्वर्णचोर, सुरापान करने वाला, गुरुतल्पगामी, ब्रह्महा और इन चारों से सम्पर्क रखने वाले— ये पतनीय बताये गये हैं। इसी प्रकार स्मृतियों तथा पुराणों में भी महापातकों का वर्णन है। इन महापातकों के साथ इनके कुछ तत्सम पाप भी वर्णित है। इन कार्यों को महापातक मानने का कारण स्पष्ट ही समझ में आता है। यह तो अवश्य है कि ये ऐसे पाप है जो अति साधारण (चोरी, मदिरापान) अथवा अति असम्भव (गुरु स्त्री गमन) समझे जा सकते हैं, यह वास्तव में ऐसे पाप होने के कारण, जिनकी हम साधारण जीवन में किसी से भी अपेक्षा नहीं करते और जिनके प्रति मन में स्वाभाविक रूप से ही वितृष्णा उत्पन्न होती है, उन्हें महापातक मानना ही उचित है। ब्राह्मण की हत्या तो, भारतीय दृष्टि से समाज—जीवन के प्रति और घोर अपराध है। जो समाज—जीवन में धर्म की स्थापना करने वाले है, जो अत्यन्त निःस्वार्थी, गुणी, सहिष्णु, परहित का ध्यान रखता है, जो समाज—जीवन में आदर्श उपस्थित करता है, जिसके पास समाज को शिक्षित

करने कार्य है, तथा जो समाज-जीवन की व्यवस्था के लिए व्यक्तियों को तैयार कर समाज में भेजता है, ऐसे व्यक्ति की हत्या करने वाले के प्रति समाज में घृणा उत्पन्न हो सकती हैं (जैसे वर्तमान काल में भी अध्यापक की हत्या)। अतः स्वाभाविक ही है कि ब्राह्मण वध एक महापातक माना गया है। गुरुस्त्रीगमन (जिसका मूल अर्थ है माता के साथ अथवा तत्सम स्त्रियों के साथ काम-संसर्ग) यद्यपि असम्भव-सा दिखने वाला धर्म है, परन्तु मनुष्य के सब प्रकार के पतन का विचार करके इस अत्यन्त घृणित, पतनीय और समाज के लिए हानिकारक कृत्य को भी भारतीय विचारकों ने महापातकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया। चोरी बहुत साधारण दिखायी देने वाली बात है, परन्तु व्यक्ति में धीरे-धीरे सब कुछ हड़प कर अपनाने की हीन भावना न उत्पन्न हो और इस प्रकार से सन्तोष के स्थान पर तृष्णा की वृत्ति न हो, तथा, दूसरे, यदि चोरी की अर्थात् परायी वस्तु पर दृष्टि रखने की भावना रोकी न जाये तो स्वाभाविक है धीरे-धीरे धीरे समाज के सुव्यवस्थित जीवन में बाधा पड़ेगी और फिर आर्थिक जीवन में कोई स्थिरता और मर्यादा ही न रह जायेगी। सर्वत्र एक असुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी इसलिए इस साधारण से दुष्कर्म को भी महापातक के रूप में रखा गया है। मदिरापन यद्यपि स्वयमेव न तो कोई दुष्कर्म है और न समाज-जीवन में केवल मदिरापन से ही अव्यवस्था उत्पन्न होती है परन्तु मदिरापन से धीरे-धीरे व्यक्ति, का पतन होने लगता है और समाज-जीवन में भी गड़बड़ी उत्पन्न होती है, इसलिए यह भी महापाप है। मदिरापन व्यक्ति का शारीरिक तथा सर्वसाधारण व्यक्तियों का चारित्रिक पतन करने वाला है और क्योंकि मदिरा अपने प्रभाव से व्यक्ति में हिंसा की, हीन वचन कहने की तथा अनुचित विचार की वृत्ति उत्पन्न करती है, इसलिए मदिरापन सामाजिक दृष्टि से भी घातक है। संक्षेप में जो पापों में सबसे घृणित, पतनीय एवं निन्दित कर्म समझे गये हैं, वे ही महापातकों में रखे गये- अर्थात् ऐसे सभी कर्म

जो व्यक्ति का धीरे-धीरे पतन करते हुए समाज को सबसे अधिक दूषित करने वाले है, वे ही महापातक है। संसर्ग का प्रभाव मानने के कारण भारतीय विचार में इन चारों से संसर्ग रखने वाला भी महापापी माना गया है क्योंकि या तो वह वैसी ही वृत्तिवाला होगा अथवा उसमें वैसी वृत्ति उत्पन्न होने क सम्भावना होग। संसर्ग रखने वालों को भी महापापी मानने का एक कारण यह भी है कि जो अत्यन्त पतित अथवा हीन है उनका समाज में बहिष्कार ही होना चाहिए और बहिष्कार करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे सभी व्यक्तियों से अन्य व्यक्तियों का सम्पर्क रोका जाये।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

¹मनु 7, 25.

²नारदपुराण

³अग्नि पुराण, 208, 390, अध्याय, 21.

⁴मनुस्मृति, 8, 29.

⁵पराशर स्मृति, 7, 19, 16.

⁶वही

⁷पुर्वमीमासा, 6, 1, 17-23.